

काव्य—दोष विचार

इंदुबाला

V.P.O., सिंधवी खेड़ा, जींद, हरियाणा, भारत।

प्रस्तावना

काव्यगोष्ठियों अथवा व्याकरणादि शास्त्रों के प्रभाव के कारण काव्यशास्त्र के विकास की प्रथम अवस्था में दोषों पर अपेक्षाकृत अधिक ध्यान दिया गया जो किसी न किसी रूप में अन्त तक भी ग्रहण किया जाता रहा यद्यपि काव्यसमीक्षा के प्रतिमान बदल जाने के कारण ध्वन्युत्तरवर्ती काल में उनके स्वरूप में पर्याप्त परिवर्तन हो चला था। काव्यशरीर के स्थान पर जब काव्यत्मविवेचन की प्रधानता बढ़ी तो दोषों का सम्बन्ध भी काव्य के आत्मतत्त्व के साथ जोड़ दिया गया। आचार्य विश्वनाथ ने आत्मभूत रस का अपकर्ष करने वाले तत्त्वों को दोष¹ कहा परन्तु दूसरी ओर जब वे गुणों को इसका उत्कर्षक बताते हैं तो सहसा आचार्य भरत की टिप्पणी का स्मरण हो आता है। उन्होंने दोषों के विपर्यस्त रूप में गुणों का भाव स्वीकार किया था। अन्यत्र वामन ने गुणों के विपर्यय को दोष² कहा जैसे अन्धकार और प्रकाश के द्वन्द्व में कोई एक दूसरे का अभाव होकर स्वरूपतः विरोधी हैं उसी प्रकार गुणों का स्वरूप और दोषों का स्वरूप परस्पर विरुद्ध है, दोनों ही लक्षणवाक्यों का इस लक्ष्यार्थ में पर्यवसान होता है।

भामह का दोषनिरूपण यद्यपि पर्याप्त विस्तृत है तथापि उन्होंने दोष की कोई निश्चित परिभाषा नहीं दी। काव्यलङ्कार की अवतरणिका में उन्होंने केवल इतना ही कहा है कि काव्य में सदोष पर का प्रयोग कुपुत्र के समान निन्दनीय होता है।³ इस प्रकार की कविता विद्वान के लिए साक्षात् मरण कही गयी है तथापि प्रथम परिच्छेद के अन्त में दोषों की गुणरूपतो का आख्यान करते हुए उन्होंने कहा है कि सन्निवेशवैशिष्ट्य के कारण ये दोष भी कहीं-कहीं काव्य में शोभा का आधान करते हैं। अतः कहा जा सकता है कि भामह के अनुसार वक्रोक्ति ही काव्य का सर्वस्व है अतः उनके स्वमत में “वक्रोक्ति में हीनता” भी दोष का लक्षण हो सकता है।

वामन विना किसी भूमिका के इस विवेचन को प्रारम्भ करते हैं। उनके अनुसार गुणों का स्वरूप काव्यशोभाकर्तृत्व⁴ है और दोष यदि उसके विपर्यय हैं तो उनका स्वरूप काव्यशोभाहर्तृत्व होना चाहिए। गुणविपर्ययात्मानों दोषः 2.1.1. पर वृत्ति लिखते हुए स्वयं आचार्य वामन ने कहा है कि दोष काव्यगत सौन्दर्य को नष्ट करने वाले होते हैं, अतः काव्य में इनके परित्याग के लिए छात्रकवि को इनका ज्ञान अवश्य प्राप्त करना चाहिए। और इसीलिए उन्होंने काव्यस्वरूप का निरूपण करते हुए कहा था कि सौन्दर्यनिष्पत्ति, जिसके कारण से ही काव्य ग्राह्य हो पाता है, वह प्रथमतः दोषों के त्याग और पुनः गुण और अलङ्कारों के ग्रहण से ही सम्पन्न होती है क्योंकि दोष सौन्दर्यसंवेदन में निगमन सहृदयहृदय में उद्वेग उत्पन्न करते हैं।⁵ इस प्रकार वामन ने भामह और दण्डी के विशृङ्खलित विवेचन को वैज्ञानिक आधार दिया परन्तु भरत और वामन जहाँ क्रमशः दोषों के निकष पर उनके विपरीत रूप गुणों के निकष पर उनके विपरीतरूप दोषों की सत्ता मानते हैं, वहाँ भामह काव्य के निकष पर गुण और दोष दोनों का स्वरूप निर्धारण करते हैं। वामन के अनुसार दोष गुणों के विरोधी हैं परन्तु भामह के अनुसार सामान्य रूप से काव्यत्व के विघातक।

एक बात और, वामन का सौन्दर्यवाद गुणत्मकधर्मविशिष्टता के आधार

पर खड़ा है जिसका सम्बन्ध पदरचनारूप रीति से है— नितान्त वस्तुनिष्ठ। एवञ्च, दोष भी काव्यशरीर की बाह्य विकृतियाँ मात्र हैं। आत्मतत्त्व को गुण और दोष की सीमाओं से अपरिच्छिन्न ही है। अतएव दोषों का भेदविभाग भी उन्होंने पदपदार्थ और वाक्यवाक्यार्थ के आधार पर किया। वस्तुतः काव्य को शब्दार्थभयनिष्ठ मान लेने पर यह प्रासङ्गिक ही है। आगे चलकर गुणों को भी उन्होंने शब्द और अर्थ दो प्रकार का कहा और उन्हीं से प्रेरणा लेकर आचार्य अभिनवगुप्त ने भरत के दश गुणों की व्याख्या शब्द और अर्थ के रूप में दो-दो प्रकार से की यद्यपि न दोनों के परस्पर अत्यन्त श्लिष्ट होने के कारण अन्तपर्यन्त इनके पार्थक्य का निर्वाह कर पाना सहज नहीं है। यही कारण है कि वामन के कई दोष एक दूसरे का सङ्क्रमण करते लक्षित होते हैं तथापि यह वामन की अपनी स्थापना है जिसे परवर्ती काल में मम्मट और विश्वनाथ तक ने भी माना। भामह शब्दार्थ दोनों को समान रूप से इष्ट मानकर भी स्पष्ट रूप से ऐसा नहीं कह पाये थे।⁶

काव्यालङ्कार के दोष परिच्छेद चतुर्थ और पञ्चम के अतिरिक्त, जहाँ ग्यारह काव्यदोषों का वर्णन हुआ है, प्रथम परिच्छेद के अन्त में भी छः और चार के दो वर्गों में दश दोषों का विवेचन हुआ है। भामह द्वारा इन विभिन्न वर्गों में दोषों के विभाजन का आधार स्पष्ट नहीं हो पाया। डा० नगेन्द्र का यह मत उपयुक्त प्रतीत नहीं होता कि विभिन्न वर्गों में विवेचित दोष भिन्न-भिन्न आचार्यों की सम्मतियाँ हैं, जिनका भामह ने सङ्ग्रह किया है।⁷ क्योंकि प्रथम परिच्छेद के एक वर्ग में जहाँ चार दोषों का उल्लेख है, उनमें से तीन केवल अश्लील का परिहार करने वाले हैं और काव्य के सभी मुख्य दोष उस वर्ग में नहीं आ पाते। डा० चतुर्वेदी के अनुसार प्रथम वर्ग के दोष वक्रोक्ति से सम्बद्ध हैं।⁸ इनका अवतरण भी वक्रोक्तिविषयक चर्चा के प्रसङ्ग में हुआ है, परन्तु भामह के मत में काव्य यदि वक्रोक्ति से क्यों नहीं है। ग्राम्य आदि जिन दोषों का उल्लेख भामह ने प्रकीर्ण रूप से किया है, वे क्या वक्रोक्ति से जुड़े हुए नहीं हैं? ये सब प्रश्न अनुत्तरित ही रह जाते हैं। सम्भवतः यह विभाजन यादृच्छिक है।

भामह का दोषविवेचन एक अन्य दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने ही सर्वप्रथम दोषों के दोषाभाव तथा विशेष परिस्थिति में गुण तक हो जाने का विधान किया है। एकार्थ दोष भय, शाकादि की स्थितियों में विशिष्ट काव्यसौन्दर्य का आधान करता है।⁹ इन्हीं परिस्थितियों में इसके दोषाभाव की बात विष्णुधर्मोत्तरकार ने भी की थी। यदि उत्कण्ठाधिक्य के कारण कोई उन्मत्त की तरह प्रलाप करे तो उस परिस्थिति में अयुक्तिमत् भी दोष नहीं रहता। दोषों की गुणात्मकता के आधारभूत दो कारणों की ओर भी भामह ने सङ्केत किया है। सन्निवेशप्रकार की विशेषता से दुरुक्त भी श्वेत पुष्प की माला के मध्य निबद्ध नीलपलाश की तरह सुशोभित होता है। इस परिवर्तन का दूसरा कारण आश्रयसौन्दर्य है, जैसे कान्ता के नेत्रों में न्यस्त मलिन अञ्जन। वामन दोषहान के प्रति कुछ अधिक सतर्क थे। श्रुतिकटु पद उनके अनुसार रचना में गुम्फित होकर भी उद्वेग ही उत्पन्न करते हैं।¹⁰ हाँ, इनके स्थूल और सूक्ष्म रूप की ओर उनमें सङ्केत अवश्य मिलता है। कम से कम चार स्थलों पर उन्होंने भी

दोषों के गुणरूप हो जाने की बात कही है। ध्वन्युत्तरवर्ती काल में अभिनवगुप्त और सम्मत आदि आचार्यों ने जो दोषों के नित्यत्व और अनित्यत्व का विभाग किया, उसका मूल भी भामह की इस परिकल्पना में ही निहित है।

काव्यालङ्कार के चतुर्थ परिच्छेद में परिगणित दोषों का उद्गमस्थल भरत का नाट्यशास्त्र है। इनके कुछ दोष¹⁰ तो नाम्ना और स्वरूपतः अभिन्न ही हैं। भामह का प्रतिज्ञाहेतुदृष्टान्तहीन दोष जिसके विवेचन में ग्रन्थ का सम्पूर्ण पञ्चम परिच्छेद व्यय हुआ है, निश्चय ही काव्यगोष्ठियों में न्यायशास्त्र की चर्चाओं के प्रभाव से आया होगा। काव्यशास्त्र के क्षेत्र में यह भामह की मौलिक स्थापना है। सम्भवतः इसकी प्रेरणा इन्हें भरत के 'न्यायादपेत' शब्द से मिली हो। हाँ, विष्णुधर्मोत्तरपुराण में प्रतिज्ञाहीन दोष का उल्लेख अवश्य हुआ है परन्तु इसका खण्डन भामह के निकट उत्तरवर्ती दण्डी ने इसे कर्कश, कहकर काव्यशास्त्र के अनुपयुक्त कहकर कर दिया। बाद में भी किसी आचार्य ने इसे स्थान नहीं दिया।

काव्यालङ्कार के प्रथम परिच्छेद के प्रथम वर्ग में परिगणित छः दोषों में से नेयार्थ को उसी नाम से तथा गूढशब्दोभिधान को गूढार्थ नाम से वामन ने पदार्थ दोषों में गृहीत किया परन्तु गूढार्थ के स्वरूप में किञ्चित् अन्तर है। वामन के अनुसार अप्रसिद्ध अर्थ में प्रयुक्त पद गूढार्थ होता है। भामह के लिए अधिकनवविमान शब्द के प्रयोग का उदाहरण दिया है तथा भामह ने कार्तिकेय के लिए 'असितर्तितुक' का। दोनों ही स्थानों पर गूढ पर्याय का प्रयोग है।

क्लिष्ट और अन्यार्थ दोष दोनों ही ग्रन्थों में नाम्ना स्वीकृत होकर भी स्वरूप-विवेचन की दृष्टि से भिन्न हो गये हैं। जहाँ अर्थप्रतीति में व्यवधान उपस्थित हो, वहाँ क्लिष्ट नामक दोष होता है।¹¹ वामन के अनुसार यह व्यवधान अप्रसिद्धि के कारण अरुद्धता नहीं है। वि उपसर्गपूर्वक ह् हरण अर्थ में प्रयुक्त नहीं होती, इसका अर्थ विहार करना होता है। काव्यालङ्कार का अन्यार्थ नाट्यशास्त्र के भिन्नार्थ के दो रूपों में से एक है—जहाँ किसी कारण से अर्थोपलब्धि नहीं हो पाती। वामन प्रसिद्धि से पतित अर्थ में अन्यार्थ मानते हैं, यथा प्र उपसर्गपूर्वक स्मृ विस्मरणार्थक प्रसिद्ध है परन्तु कहीं उसका प्रकृत स्मरण के अर्थ में प्रयोग हो जाता है। वामन के इन दोनों दोषों की सीमायें एक-दूसरे का स्पर्श करती हैं। दोनों ही स्थानों पर अप्रसिद्धि के कारण अर्थ में बाधा उपस्थित हो रही है। भामह के विवेचन में इनके सूक्ष्म अन्तर को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया था। ये पदार्थ दोष हैं।

जो शब्द लोक में किसी अर्थ का साक्षात् वाचक नहीं होता, उसे अवाचक कहते हैं।¹² मेघ के लिए 'हिमापहामित्रधर' शब्द का प्रयोग इसी प्रकार का है। भामह का यह दोष वामन के अप्रयुक्त से पर्याप्त समानता रखता है, जहाँ छल आदि के द्वारा अर्थ की कल्पना की जाती है परन्तु वामन ने इसका कोई दाहरण नहीं दिया क्योंकि यह दोष साहित्य में कम ही उपलब्ध होता है। यहाँ इसकी गणना वाक्यार्थ दोषों में हुई है।

अयुक्तिमत् दोष का उद्घाटन सम्भवतः स्वयं भामह ने ही किया है, जो विषय युक्तियुक्त न हों, यथा मेघ, पवन आदि का दौत्यकर्म परन्तु भामह के समक्ष उन महाकवियों की रचनायें भी उपस्थित थीं जिनकी शक्ति इस प्रकार के दोषों को संवृत कर लेती है और ये भी काव्य के सहज संवेद्य पक्ष बनकर उभरते हैं। इन महाकवियों के प्रयोगों को सुमेध-प्रयोग कहकर प्रशस्त किया गया। इसे अनौचित्य पर आधृत प्रबन्धदोष कह सकते हैं।

द्वितीय वर्ग में भामह ने श्रुतिदुष्ट और अर्थदुष्ट के नाम से जिन दोषों का उल्लेख किया है, वामन ने उनका समाहार 'अश्लील' नाम से किया और पुनः इसके तीन भेद व्रीडादायी, जुगुप्सादायी और अमगुल्लवाचक किये। भामह ने इसके व्रीडादायी रूप के दाहरण ही दिये थे। पुनरपि यह असम्भ्यार्थ यदि अप्रसिद्ध, लक्षणाश्रित अथवा लोकसंवीत हो तो वामन के अनुसार इस दोष की कल्पना भी नहीं

की जानी चाहिए। निश्चय ही वामन का विवेचन मौलिक और अधिक तात्त्विक है परन्तु उन्होंने इसका उल्लेख पदार्थ दोषों में किया है जबकि भामह का श्रुतिदुष्ट पद से सम्बन्धित है।

काव्यालङ्कार के रचयिता के अनुसार कल्पनादुष्ट दोष वहाँ होता है, जहाँ दो शब्दों के मेल से अनिष्टार्थ कल्पित होता है, जैसे शौर्य और आभरण की सन्धि से मैथुन का वाचक अश्लीलार्थ 'याभ' पद कल्पित होता है।¹³ वामन ने इसका गणन वाक्य के विसन्धि नामक दोष में किया है जहाँ पदों की सन्धि के अनन्तर असम्भ्यार्थ की स्मृति का हेतु उपस्थित हो जाये। वहाँ यह विसन्धि नामक दोष का एक भेद है।

श्रुतिविरस पदों में दोष की कल्पना दोनों ही आचार्यों ने समान रूप से की। भामह ने इसे श्रुतिकटु कहा, वामन ने कष्ट नाम देकर पददोषों में स्थान दिया।

वामन ने वाक्यदोष के अन्तर्गत जिन तीन दोषों का उल्लेख किया है, वे सभी उनसे पहले विवेचित हो चुके थे। आचार्यों का एक ऐसा वर्ग भी था जो भिन्नवृत्त और यतिभ्रंश को अभिन्न मानता था। इसके प्रवर्तक आचार्य भरत थे। उन्होंने इन दोनों दोषों के लिए एक संयुक्त नाम 'विषम' दिया। वामन ने इस वाद का खण्डन किया क्योंकि पृथक् स्वरूप वाली दो वस्तुओं को एक नहीं माना जा सकता। छन्द का अपने लक्षण से च्युत होना भिन्नवृत्त दोष है, जबकि यतिभ्रष्ट दोष वहाँ होता है जहाँ लक्षणानुसारी छन्द में कर्णकटु विराम उपस्थित हो जाये। यह प्रायः स्वरसन्धि के बिना क्रियापद तथा नामपद का भेद कर देने पर होता है परन्तु उस परिस्थिति में यह दोष नहीं माना जाता जब यति प्रकृति-प्रत्यययोग अथवा स्वरसन्धि के स्थल पर आपतित हो रही हो। भामह और दण्डी भी इन्हें पृथक् नहीं मानते थे।

विसन्धि का उल्लेख यद्यपि भरत, भामह, दण्डी सभी ने किया परन्तु वामन का विवेचन अधिक महत्त्वपूर्ण है। विरूप पदसन्धि को विसन्धि नाम देकर उन्होंने विश्लेष, अश्लील और कष्ट रूप में इसका त्रिधा विभाजन किया। अश्लील और क्लिष्ट को वामन पहले भी पदार्थदोष मान चुके थे। इस प्रसङ्ग में वाक्यदोष के रूप में भी उन्हें मान्य किया गया है।

अन्य प्रमुख काव्यदोषों में व्यर्थ, एकार्थ, ससंशय और अपक्रम दोनों ही ग्रन्थों में नामतः और स्वरूपतः भी अभिन्न हैं। एकार्थ का उल्लेख भरत के नाट्यशास्त्र में भी मिलता है।¹⁴ ये क्रमशः विरुद्ध अर्थ, पुनरुक्त, सन्दिग्ध अर्थ और क्रमरहित निर्देश के नाम हैं। इन सभी का उल्लेख वामन ने वाक्यार्थदोषों के प्रसङ्ग में किया है। एकार्थ को स्वयं भामह ने भी अर्थनिष्ठ कहा है। परन्तु वामन ने यह व्यवस्था भी दी है कि पुनरुक्त द्वितीय पद यदि साभिप्राय प्रयुक्त हो, तो वह दोष नहीं होगा। यथा 'धनुर्ज्याध्वनौ' इस प्रयोग में 'ज्या' पद में ही धनुः अर्थ के अन्तर्हित होने पर भी अरोहण की प्रतीति को अधिक संवेगी बनाने के लिए उसका आदान किया गया है। अस्तु।

भरत का शब्दच्युत, भामह का शब्दहीन और वामन का असाधु पददोष हैं। भामह ने पाणिनि व्याकरण से असम्मत पद में यह दोष माना है। अन्यत्र भी वे पाणिनि में विशेष आदर प्रकट करते हैं जबकि तन्त्रान्तर से साधित पदों के प्रयोग का उन्होंने निषेध किया है।

भामह के देशकालकलालोकन्यायागमविरोधी को वामन ने लोक-विरुद्ध और विद्याविरुद्ध इन दो भागों में बाँटकर प्रस्तुत किया। देश, काल और स्वभावविरोधी दोषों को लोकविरुद्ध तथा कला, चतुर्वर्ग एवं शास्त्रविरोधी दोषों को विद्याविरुद्ध दोषों में समाहित किया गया। इसके अतिरिक्त और कुछ मौलिकता वामन की नहीं है।

भरत और विष्णुधर्मोत्तरकार ने जिसे अभिप्लुतार्थ कहा, भामह ने उसे ही अपार्थ के नाम से निर्दिष्ट किया। यह दोष वहाँ होता है जहाँ एक ही प्रकरण में परस्पर असम्बद्ध विभिन्न वाक्य उपस्थित हों।

दण्डी ने भामह के अनुकरण पर ही इसे अपार्थ नाम दिया। वामन में इसका उल्लेख नहीं मिलता।

वामन की सूची के ग्राम्य, अनर्थक और अप्रतीत दोषों का उल्लेख यद्यपि भामह ने स्पष्ट रूप से दोषों की किसी भी सूची में नहीं किया परन्तु काव्यालङ्कार में प्रकीर्ण रूप से इन दोषों की ओर सङ्केत अवश्य हुआ है। महाकाव्य के लक्षण तथा वैदर्भी और गौडी रीति के विवेचनप्रसङ्ग में भामह ने ग्राम्य दोष के प्रति सावधान किया है। काव्याङ्कार के पञ्चम परिच्छेद में बहुपूरण दोष की ओर सङ्केत है,¹⁶ जिसे वामन ने अनर्थक नाम दिया। सूत्रवृत्तकार के अनुसार अप्रतीत दोष वहाँ होता है जहाँ केवल शास्त्रमात्र में प्रयुक्त तथा लोक में अप्रचलित पदों का काव्य में प्रयोग होता है, भामह के असुनिर्भेदता दोष की भी यही व्याख्या है। साक्षात् अप्रतीत का उल्लेख भी भामह ने षष्ठ परिच्छेद में किया है— धातुओं की अनेकार्थकता के कारण अन्यथा अर्थ रखने वाले तथा अप्रतीत प्रयोग न किये जायें। सम्भवतः वामन के अप्रतीत का उद्गम यही रहा हो। निश्चय ही इन दोषों का विवेचन करते हुए वामन को भामह के ग्रन्थ से प्रेरणा मिली होगी। वामन के अनुसार ये सभी पददोष हैं।

इनके अतिरिक्त भी काव्यालङ्कार में अपुष्टार्थता, आकुलता, अहृद्यता, विरुद्धपद, अस्वर्थ, व्यायतता, आदि प्रकीर्ण दोषों को खोजा जा सकता है। यद्यपि ग्रन्थ में इन्हें अपेक्षित गौरव देकर वर्णित नहीं किया गया तथापि ये आचार्य की समर्थ और सूक्ष्म सन्दर्शिकों के परिचायक हैं। क्रमबद्धता के अभाव में भी इनका विवेचन उतरवर्ती आलङ्कारिकों के लिए उपजीव्य बना।

वामन की सूची में उन दोषों को भी सम्मिलित किया जाना चाहिए जिनका उल्लेख उन्होंने गुणविवेचन के सन्दर्भ में गुणविपर्यय के रूप में किया है। इसकी प्रेरणा इन्हें सम्भवतः दण्डी से मिली हो। शुद्ध प्रसाद गुण भी, यदि वह ओजोमिश्रित न हो तो वामन के अनुसार दोष ही है। सौकुमार्य गुण का लक्षण अजरठत्व है, स्पष्टतः यह जरठत्वरूप दोष का विपर्यय है। उज्ज्वलता का विपर्यय वामन के अनुसार पुराणच्छाया है। ग्राम्य दोष के अभाव में उन्होंने उदारता नामक गुण की स्थिति भी मानी हैं। समता नामक अर्थगुण विभ्रता का अभाव है। कुछ गुणों के उदाहरण में उनके अभावरूप अथवा विपर्ययरूप दोषों का भी उल्लेख है। मसृणत्व श्लेष गुण है, अमसृणत्व को उन्होंने उदाहरण में स्पष्ट किया है। पृथक्पदत्व माधुर्य है, जिसका विपर्यय लम्बे समस्त पद हैं।

समाहार रूप में कह सकते हैं कि वामन के समय पर दोषनिरूपण पर्याप्त विकासोन्मुख था इस क्षेत्र में अनेक नवीन कल्पनायें की जा रही थीं। परम्परागत दश के वर्ग में विभाजन अब सम्भव नहीं रहा था वामन ने शब्द और अर्थ का भेद करके इस संख्या को बीस किया। इससे एक ओर तो कुछ दोष एक-दूसरे की सीमाओं का अतिक्रमण करने लगे दूसरी ओर अनेक मुख्य दोष छूट भी गये जो इस वर्गविभाजन में स्थान नहीं पा सके। उनका विवेचन अन्यत्र प्रकीर्ण रूप में किया गया, वे भी निस्सन्देह महत्त्वपूर्ण थे। वामन ने गुणों के प्रकरण में उनके विपर्ययरूप जिन दोषों का उल्लेख किया, कामधेनु टीकाकार ने उन्हें ही वस्तुतः सूक्ष्म दोष कहा था। उपमादोषों का विवेचन उपमा अलङ्कार के प्रसङ्ग में किया जाता था।

भामह ने मेधावी (मेधाविरुद्ध) के अनुसार सात उपमादोषों का उल्लेख किया है।¹⁷ वामन ने इन्हीं का छह में समाहार कर दिया। विपर्यय का उल्लेख काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति में नहीं है। उपमान की न्यूनता (जिसे उन्होंने हीनता कहा है) और अधिकता में ही इसका अन्तर्भाव हो जाता है। वामन का एक विशिष्ट योगदान यह भी है कि उन्होंने इस न्यूनता और अधिकता के जाति, प्रमाण और धर्म रूप अधारों की सङ्कल्पना की। असदृश नामक दोष में उपमेय और उपमान का कोई भी धर्म सामान्य नहीं होता जबकि सम्भव में उपमान के असम्भावित पक्ष की कल्पना होती है। उपमेयोपमान का लिङ्ग एवं

वचन भिन्न होने पर लिङ्गभेद और वचनभेद तथा लिङ्ग और वचन—भेद सामान्यतः सहृदय में उद्देग उत्पन्न नहीं करते, अतः ये अनित्य दोष हैं। वामन पुल्लिङ्ग और नपुंसक की भिन्नता को दोष नहीं मानते। लौकिकी, समासाभिहिता और उपमाप्रपञ्च में भी यह सहृदय है।

इस प्रकरण में भामह का कुछ भी नया नहीं है इसके सभी लक्षण और सम्भवतः उदाहरण भी मेधावी से ही लिये गये हैं, यह उन्होंने स्वयं भी माना है। हाँ, असम्भव दोष को उन्होंने पूरे मन से स्वीकार नहीं किया।¹⁸ नमिसाधु ने भी उपमादोषों का उल्लेख मेधावी के प्रामाण्य पर किया है तथा उसके पाँच लक्षण व उदाहरण भामह से अभिन्न हैं। वामन भी यद्यपि उनके ऋणी हैं तथापि विश्लेषण और विभाजन की दृष्टि से उनका कुछ योगदान अवश्य है।

काव्योन्मत्त की धारणायें ब तक वस्तुगत थीं, दोषों को भी तब तक शब्दार्थ से ही सम्बद्ध किया जाता था। ध्वनि सिद्धान्त की उद्भावना के साथ ही काव्य का आत्मगत स्वरूप स्पष्ट होने लगा। आनन्दवर्धन से भी पहले रुद्रट के समय से ही रसदोषों की कल्पना ने जन्म लिया। हृदयोद्देजकता का स्थान अब रसापकर्षकता ने ले लिया। इसके साथ ही दोषों की संख्या में वृद्धि हुई। संख्यावृद्धि की इस प्रवृत्ति के बीज भामह से पूर्व ही देखे जा सकते हैं। रसध्वनिकाल में दोषों के स्वरूप में परिवर्तन हुआ, उनकी संख्या में वृद्धि हुई, उनके वर्गीकरण के आधार विकसित हुए परन्तु पूर्वाचार्यों की उपजीव्यता पुनरपि निःसन्दिग्ध रही। सार रूप से शोधकर्ता ने आचार्यों के दोष विषयक विकारों का विवेचन किया है। उसका मानना है कि इस दिशा में अभी और अनुसंधान आवश्यक है।

संदर्भ ग्रंथ

1. साहित्य दर्पण : 1/3
2. काव्यसूत्रवृत्ति : 2/1/1
3. काव्यादर्श : 1/11
4. काव्यादर्श : 1/12
5. काव्यालङ्कार सूत्रवृत्ति : 2/1/6 पर वृत्ति।
6. भामह और वामन के काव्य सिद्धान्त (डॉ० रमण कुमार शर्मा) पृ० सं० 56
7. डॉ० नगेन्द्र, भारतीय काव्य शास्त्र की भूमिका पृ० 62
8. काव्यालङ्कार : 4/14
9. काव्यसूत्रवृत्ति : 2/1/6 पर वृत्ति
10. काव्यालङ्कार : 4/2
11. काव्यसूत्रवृत्ति : 2/1/20
12. काव्यालङ्कार 1/41
13. काव्यालङ्कार सूत्रवृत्ति : 1/52
14. नाट्यशास्त्र : 16/88
15. काव्यालङ्कार 6/62, 63
16. काव्यादर्श : 1/34
17. काव्यालङ्कार: 2/39
18. काव्यालङ्कार : 2/4